

## कारकभेदों का समीक्षात्मक अध्ययन

डा. अजय कुमार\*

“क्रियां करोति निर्वर्तयतीति कारकम्” अर्थात् जो क्रिया को सम्पन्न करता है या क्रिया का निष्पादन करता है उसे कारक कहते हैं। इसी कारण सभी वैयाकरणों ने सर्वसम्मत लक्षण कारक का इस प्रकार दिया है—

“ क्रियाजनकत्वं करकत्वम्” । कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण— ये 6 कारक कहलाते हैं। इनसे किसी न किसी रूप में क्रिया की निष्पत्ति होती है। संबंध—विभक्ति को कारक नहीं मानते क्योंकि वह क्रिया की निष्पत्ति में अन्यथासिद्ध होती है। उदाहरणार्थ:—

“ रामस्य पुत्रः पठति” इस उदाहरण में राम का क्रिया की सिद्धि में कोई साक्षात् योगदान नहीं है। अतः वह कारक नहीं है। अतएव कहा गया है:—

कर्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च ।

अपादानाधिकरणे चेत्याहुः कारकाणि षट् ।।

(1) कर्ता कारकः :- ‘स्वतंत्रः कर्ता’<sup>1</sup>

अर्थात् क्रिया की सिद्धि या निष्पत्ति में जो जो निमित्त या साधक होते हैं उन्हें कारक कहते हैं। कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण आदि क्रिया के साधक होने से कारक कहलाते हैं परन्तु इन सब कारकों या क्रियानिष्पादकों में जो कारक स्वतन्त्रतया या मुख्यतया विवक्षित अर्थात् वक्ता को अभीष्ट होता है उसकी कर्तृसंज्ञा होती है। तात्पर्य यह है कि जैसे अन्य कारक कर्ता से प्रेरित होकर क्रिया का निष्पादन करते हैं वैसे कर्ता अन्य कारकों से प्रेरित होकर क्रिया का निष्पादन नहीं करता अपितु स्वतन्त्रतया क्रिया का जनक होता है।

‘कर्ता स्वातन्त्र्य पर भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में अत्यन्त सुन्दर कहा है:—

प्रागन्यतः शक्तिलाभान्यग्भावापादनादपि ।<sup>2</sup>

तदधीनप्रवृत्तित्वात् प्रवृत्तानां निवर्तनात् ।।

अर्थात् अन्य कारक तो कर्ता से युक्त होकर क्रिया की सिद्धि में कारण आदि शक्ति को प्राप्त करते हैं। परन्तु कर्ता पहले उनकी अपेक्षा किए बिना स्वतन्त्रतया क्रिया का जनक होता है। उदाहरणार्थ:—

रामः पठति में, पठन क्रिया का स्वतंत्रतया जनक होने से राम कर्ता है।

(2) कर्मकारक — कर्मकारक का लक्षण महर्षि पाणिनि ने इस प्रकार दिया है:—

“कर्तुरीप्सिततमं कर्म”<sup>3</sup>

अर्थात् कर्ता का उसकी क्रिया के द्वारा (ईप्सिततमम्) पाने के लिए जो अत्यंत अभीष्ट कारक होता है वह कर्म कहलाता है। तात्पर्य यह है कि किसी क्रिया का कर्ता अपनी क्रिया के द्वारा जिसे पाने के लिए लालायित रहता है उसकी कर्म संज्ञा होती है। उदाहरणार्थ :-

श्यामः कटं करोति— श्याम चट्टाई बनाता है

इस उदाहरण में कर्ता करणक्रिया के द्वारा कट के लिए विशेष उत्सुक रहता है। अतः कट की प्रकृत सूत्र से कर्मसंज्ञा हो “ कर्मणि द्वितीया” इस सूत्र से कट में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है। तण्डुलान् पचति (चावलों को पकाता है)। इस वाक्य में पाकक्रिया के द्वारा कर्ता तण्डुलों को विशेष रूप से सम्बद्ध करना चाहता है या पचन का विषय बनाना चाहता है। अतः तण्डुल की पचनक्रिया के प्रति कर्मसंज्ञा होकर पूर्ववत् द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त हुई है।

(3) करणकारकः— करण कारक का लक्षण है :-

“ साधकतमं करणम् ”<sup>4</sup> अर्थात् क्रिया की सिद्धि में जो अत्यंत सहायक है वह करण कारक कहलाता है। तात्पर्य यह है कि वैसे तो सभी कारक क्रिया की सिद्धि में अपनी—अपनी जगह सहायक होते हैं परन्तु जो कारक सबसे अधिक सहायक हो उसकी करण संज्ञा होती है। पुनः जिस कारक के व्यपार के तुरन्त बाद क्रिया की सिद्धि हो जाती है उसे प्रकृष्ट या सर्वाधिक सहायक मानना चाहिए। यथा

रामेण बाणेन हतो बाली (राम से बाण द्वारा बाली मारा गया)

इस उदाहरण में बाण के व्यापार बाली के शरीर में प्रवेश के तत्काल बाद हनन क्रिया का फल सिद्ध हो जाता है। अतः यहां हनन क्रिया की सिद्धि में अत्यंत उपकारक या सहायक होने से “ बाण” करण कारक है। वाक्यपदीय में महावैयाकरण भर्तृहरि ने इसी बात को इस प्रकार कहा है:—

क्रियायाः फलनिष्पत्तिर्यद्वापारादनन्तरम् ।<sup>5</sup>

विवक्ष्यते यदा तत्र करणं तत्तदा स्मप्तम् ।।

यहाँ यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि करणसंज्ञा भी विवक्षाधीन होती है। जब वक्ता किसी को करणरूप में प्रस्तुत करना चाहता है तो वह करण बन जाता है। यथा — जगत् में पचन क्रिया की सिद्धि में स्थाली आधार होने से अधिकरण मानी जाती है परन्तु जब वक्ता उसे प्रकृष्टोपकरक के रूप में कहना चाहता है तो वह करण बन जाती है — “ स्थाल्या पचति ” इस उदाहरण में स्थाली करण संज्ञक है। अतएव भर्तृहरि कहते हैं :-

वस्तुतस्तदनिर्देश्यं न हि वस्तु व्यवस्थितम् ।<sup>6</sup>

स्थाल्या पच्यत इत्येषा विवक्षा दृश्यते यतः ।।

अर्थात् जैसे घटत्व आदि प्रत्येक घट में निश्चित रूप से रहते हैं वैसे करणत्व किसी एक वस्तु व्यवस्थित रूप से नहीं रहता। यह वक्ता की विवक्षा के अधीन होता है। वह जिसे चाहता है करणरूप में कह देता है।

(4) सम्प्रदानकारकः — सम्प्रदान कारक का लक्षण है

“कर्मणा यमभिप्रेति स सम्प्रदानम् ” अर्थात् दान क्रिया के द्वारा कर्ता जिससे संबंध स्थापित करना चाहता है उसे सम्प्रदान कारक कहते हैं।

यहाँ सम्प्रदान – सम् सम्यक् दीयते प्रकर्षण अस्मै इति सम्प्रदानम् “अर्थात् जिसे कुछ दिया जाए और वापस न लिया जाए वह सम्प्रदान होता है और सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति प्रयुक्त होती है।

यथा :- सः विप्राय गां ददाति (वह ब्राह्मण को गौ देता है)।

इस उदाहरण में कर्ता दानक्रिया के कर्म (गौ) से विप्र को संबद्ध करना चाहता है अतः विप्र यहाँ सम्प्रदान है। और सम्प्रदान संज्ञा होने से विप्र में चतुर्थी विभक्ति प्रयुक्त है।

इस लोक में धोबी को कपड़े धोने के लिए दिए जाते हैं और उन्हें देने वाला वापस लेता है अतः धोबी या रजक सम्प्रदान नहीं होता क्योंकि सम्प्रदान तो तब होता है जब प्रदत्त वस्तु वापस न ली जाए।

सम्प्रदानाभाव में रजक में चतुर्थी न होकर संबंधविवक्षा में “षष्ठी शेषे” से षष्ठी हो जाती है –

“रजकस्य वस्त्राणि ददाति ।

(5) अपादानः—“ध्रुवमपायेऽपादानम्”<sup>8</sup> अर्थात् जब किसी का किसी से विश्लेष या जुदाई होता है तो हम उस विश्लेष को किसी अवधि के द्वारा ही प्रकट करते हैं यथा अश्वात् पतति (घोड़े से गिरता है) ।

इस उदाहरण में ध्रुवसवार और घोड़े का विश्लेष बताया जा रहा है। इस विश्लेष में घोड़ा अवधि बना हुआ है क्योंकि वक्ता अश्व से अलगाव की बात कहना चाहता है और पतनक्रिया का जनक होने से यह कारक भी है अतः अश्व अपादान है। और अपादान होने से इसमें प×चमी विभक्ति प्रयुक्त होती है।

‘धावतोऽश्वात् पतति (दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है)।

इस उदाहरण में विश्लेष में दौड़ता हुआ घोड़ा अवधि है अतः वह अपादान है।

यहाँ विशेष रूप से ध्यातव्य है कि ‘ध्रुव’ शब्द लोक में यद्यपि ‘स्थिर’ अर्थ में प्रचलित है तथापि यहाँ उसका अवधिभूत अर्थ किया गया है। इसका कारण यह है कि स्थिर अर्थ करने से “धावतोऽश्वात् पतति” में अश्व की अपादानसंज्ञा न हो सकती थी क्योंकि वह स्थिर नहीं है दौड़ रहा है। अब ध्रुव का अवधिभूत अर्थ करने से कोई दोष नहीं आता क्योंकि चाहे वह दौड़ रहा है पर गिरने में अवधि तो है ही। इस संदर्भ महावैयाकरण भर्तृहरि की निम्नस्थ कारिकाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं –

“अपाये यद् उदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम् ।

ध्रुवमेवाऽतदावेशात् तदपादानमुच्यते ॥ 1 ॥

पततो ध्रुव एवासौ यस्माद् अश्वात् पतत्यसौ ।

तस्याप्यश्वस्य पतने कुड्यादि ध्रुवमिष्यते ॥ 2 ॥

अर्थात् तात्पर्य यह है कि विश्लेष में जो उदासीन अर्थात् अपायजनक व्यापार का आश्रय नहीं है, वह चल हो या अचल ‘ध्रुव’ ही होता है क्योंकि वियोगजनक व्यापार का आश्रय वह नहीं है अतः अपादान कहलाता है।

पुनः

“कुड्यात् पततोऽश्वात् पतति देवदत्तः (भित्ति से गिरते हुए घोड़े से देवदत्त गिरता है)। “ इस उदाहरण में गिरते हुए घोड़े से गिरने में “ गिरता हुआ घोड़ा” ध्रुव ही माना जाता है क्योंकि देवदत्त के गिरने में वियोगजनक व्यापार का वह आश्रय नहीं है अतः

वह अपादान है।

(6) अधिकरणकारक – “आधारोऽधिकरणम्”<sup>9</sup> यह अधिकरण कारक का लक्षण है। अर्थात् आधार अधिकरण संज्ञक होता है। यहाँ अधिकरण के विवेचन से पूर्व आधार की व्याख्या अपेक्षित है।

“आध्रियन्तेऽस्मिन्नित्याधारः, अधिकरणे घञ्” अर्थात् जिस पर या जिसमें कोई वस्तु रखी जा रही है उसे आधार कहते हैं। आधार पर रखी जाने वाली वस्तु को ‘आधेय’ कहते हैं। यथा – रामः पर्यङ्के तिष्ठति – इस उदाहरण में पर्यङ्क- ४।१।५५ आधार है तथा राम आधेय है।

“कर्ता और कर्म के द्वारा उनमें रहने वाली क्रिया का आधार जो कारक है, वह अधिकरण कहलाता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ क्रिया का साक्षात् आधार नहीं माना जाएगा अपितु क्रिया का आधार जो कर्ता या कर्म है, उनके आधार की अधिकरण संज्ञा होगी, इस तरह वह आधार परम्परया कर्ता और कर्म में स्थित क्रिया का भी आधार समझा जाएगा। इसी बात को भर्तृहरि ने इस प्रकार कहा है –

“कर्तृ-कर्मव्यवहिताम् असाक्षाद् धारयत् क्रियाम् ।<sup>10</sup>

उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥

उदाहरणः—

(1) कटे आस्ते (चटाई पर बैठता है) –

इस उदाहरण में आसन क्रिया का आधार उसका कर्ता है और कर्ता का आधार चटाई है तो इस प्रकार परम्परया आसन क्रिया का आधार चटाई या कट हो गया। और कट की अधिकरण संज्ञा हुई तथा “ सप्तम्यधिकरणे च” से उसमें सप्तमी विभक्ति प्रयुक्त होती है।

(2) स्थाल्यां तण्डुलान् पचति (बटलोई) में चावल पकाता है।

– इस उदाहरण में पचन क्रिया का आधार उसका कर्म है और कर्म का आधार स्थाली है तो इस प्रकार परम्परा से पचनक्रिया का आधार स्थाली हुई।

अतः स्थाली की अधिकरण संज्ञा होगी और उसमें सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया जाएगा।

संदर्भ ग्रन्थः—

1. अष्टाध्यायी—1.4.54 —महर्षि पाणिनी विरचित
2. वाक्यपदीय—3.7.10—भर्तृहरि विरचित
3. अष्टाध्यायी—1.4.49 —महर्षि पाणिनी विरचित
4. अष्टाध्यायी—1.4.42 —महर्षि पाणिनी विरचित
5. वाक्यपदीय—3.7.90—भर्तृहरि विरचित
6. वाक्यपदीय—3.7.91—भर्तृहरि विरचित
7. अष्टाध्यायी—1.4.32 —महर्षि पाणिनी विरचित
8. अष्टाध्यायी—1.4.24 —महर्षि पाणिनी विरचित
9. अष्टाध्यायी—1.4.45 —महर्षि पाणिनी विरचित
10. वाक्यपदीय—3.4.148—भर्तृहरि विरचित

